© UNIVERSAL RESEARCH REPORTS | REFEREED | PEER REVIEWED
ISSN : 2348 - 5612 | Volume : 06 , Issue : 01 | January – March 2019

समकालीन हिन्दी कहानी में गैर–दलितों का दलित–विषयक लेखन और उसका समाज पर प्रभाव

शोधकर्ता
सरोज बाला

Dr Sumitra choudhary
Associate professor
Sunrise University Alwar

दलित वर्ग की ऐतिहासिकता की चर्चा करने से पहले इस वर्ग में आने वाली जातीय समूहों की पहचान करनी आवश्यक है। इस वर्ग से मेरा तात्पर्य भारतीय समाज के उन जातीय समूहो से है जो वर्णाश्रम व्यवस्था से बाहर है। इस तरह इस वर्ग के अंतर्गत अछूत और आदिवासी ही नहीं, बल्कि इन दो समूहों से अन्य धर्मों में धर्मांतरित लोग जैसे, दलित–मुस्लिम, दलित इसाई, दलित बौद्व और दलित–सिक्ख आते है। वर्णाश्रम व्यवस्था से बाहर होने का अर्थ है हिंदू धर्म से बाहर होना। पर इस दृष्टिकोण को और सही ढंग से समझने के लिए संक्षेप में इसकी व्याख्या आवश्यक है। इससे बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाएगी।

ब्रिटीशकालीन मुस्लिम नेतृत्व सरकार से अपने लिए कुछ पृथक वैधानिक अधिकारों की मांग कर रहा था, ताकि हिंदू बहुल देश में उसके हित सुरक्षित रह सकें। इस प्रक्रिया में मुसलमानों ने आगा खां के नेतृत्व में वायसराय लार्ड मिन्टों से विधान मण्डल, कार्यपालिका और सरकारी नौकरियों में पर्याप्त और पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की। इस संदर्भ में आगा खां का तर्क था कि देश में अन्य अल्पसंख्यक समुदायों की तुलना में मुसलमानों की संख्या अधिक है। इसलिए उनके हितों की रक्षा सुनिश्चित की जानी आवश्यक है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो देश के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता है। इस जनसंख्या का महत्व उस समय और भी बढ़ जाता है जब समस्त हिंदुओं की जनसंख्या में से उन लोगों का निकाल दिया जाए जो अपने आपको हिंदू नहीं मानते तो ऐसी स्थिति में मुसलमानों की संख्या शेष हिंदुओं की तुलना में पर्याप्त है। चूंकि, शासन–प्रशासन में बहुसंख्यक हिंदुओं के वर्चस्व से मुसलमान भयभीत थे। इसलिए वे अपने हितों की रक्षा के लिए सरकार से शासन–प्रशासन में अपने समुचित प्रतिनिधित्व एवं वैधानिक अधिकारों की मांग कर रहे थे। यह बात तो सच थी कि देश की पर्याप्त जनसंख्या हिंदू नहीं थी। पर ऐसा कहते हुए मुस्लिम नेतृत्व हिंदुओं पर मात्र अपना मनोवैज्ञानिक दबाव ही बनाए रखना ही चाहता था और कुछ नहीं। इसके पीछे ऐसा नहीं था कि वह अपनी ही तरह इन अल्पसंख्यक अहिंदुओं के लिए भी शासन प्रशासन में किसी भी प्रकार के प्रतिनिधित्व और वैधानिक अधिकार की मांग कर रहा था।

आधुनिक दलित आंदोलन

आधुनिक भारत में दलित आंदोलन का आरंभ महात्मा जोतिबा फुले से होता है। महात्मा फुले का जन्म महाराष्ट्र प्रांत में वर्ष 1827 में हुआ था। ये माली परिवार से थे। इनके पितामह पेशवाओं को फूल भेजने का कार्य करते थे। पर बाद में इनके पिता ने फूलों का ही अपना स्वतन्त्र व्यापार स्थापित कर लिया जिससे परिवार के लिए सामान्य स्तर का जीवनयापन संभव हो सका। व्यापार के माध्यम से ही इनके पिता का संपर्क अच्छे–अच्छे मुसलमान और ईसाई परिवारों से हुआ और उन्हीं लोगों की सलाह पर इन्होंने अपने पुत्र जोतिबा को पढ़ाने का निश्चय किया। जोतिबा की शिक्षा–दीक्षा मिशनरी स्कूल में हुई। अध्ययन के दौरान ही इनका संपर्क पश्चिम के आधुनिक ज्ञान–विज्ञान और विचारों से हुआ जिसका प्रभाव इनकी चिंतन प्रक्रिया पर पड़ा। थामसपेन की पुस्तक 'एज आफ रीजन' से ये अत्यधिक प्रभावित हुए। इसी पुस्तक से इन्होंने जाना कि सामाजिक जीवन तर्क और विवेक से ही गाइड होने चाहिए। इसी आधार पर इन्होंने हिन्दू धर्म, दर्शन और पुराण आदि को परखा और विवेक सम्मत न पाने पर इनकी आलोचनाएं कीं और निष्कर्ष निकाला कि समस्त हिंदू वांगमय ब्राह्मणवादी दर्शन के अलावा कुछ नहीं जो यहां के बहुसंख्यक निम्न जाति के लोगों के शोषण का आधार है। हिन्दू धर्म में सुधार के उद्देश्य से वर्ष 1848 में स्थापित की गई परमहंस मंडली के संपर्क में आए। यह वही मंडली थी जिसके कुछ सदस्यों ने बाद में प्रार्थना समाज की स्थापना की। मंडली के कार्यों और विचारों से वे पूरी तरह सहमत नहीं हुए। हिन्दू शास्त्रों की आलोचना से संबंधित रावर्ट नेसविट की प्रसिद्ध पुस्तक 'ब्राह्मणस क्लेम्स' पढ़ी जिसमें दिखाया गया है कि शास्त्रों के नियम कैसे ब्राह्मणों के सांसरिक हितों की रक्षा करते हैं। इसी से प्रभावित होकर इन्होंने अपनी पहली पुस्तक – 'ब्राह्मणांचे कसब' (क्राफ्टिनेस ऑफ द ब्राह्मण) प्रकाशित की जिसमें उन्होंने ब्राहमण पुरोहितों की चालाकियों को दर्शाया है। वर्ष 1847 में ये उग्र राष्ट्रवादी नेता साहू जी राव मांग के संपर्क में आए जो हिंसात्मक तरीके से ब्रिटिश राज को समाप्त करना चाहते थे। जोतिबा जी, लाहुजी राव के हिंसात्मक तरीके के आंदोलन को पसंद नहीं किया और उनके आंदोलन से अपने आपको दूर रखा। ऐसा इन्होंने इसलिए किया कि वे ब्रिटिश शासन को एक आवश्यक बुराई मानने लगे थे जिसके अन्तर्गत ही शुद्रों का भला होने वाला था। इनको इस बात का पूरा एहसास था कि अंग्रेजों के जाने के बाद ब्राह्मणवादी पेशवाओं का ही राज आएगा जो उनके अपने वर्ग के लिए अंग्रेजों से अत्याधिक घातक है।

सामाजिक स्वतन्त्रता और राजनैतिक स्वतन्त्रता में सबसे महत्वपूर्ण कौन है, पर विचार कर ही रहे थे कि इनके साथ वर्ष 1848 में एक ऐसी घटना घटी कि इन्हें यह निष्कर्ष निकालने में देर नहीं लगी कि सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रश्न राजनैतिक स्वतन्त्रता से बड़ा है। इसलिए सामाजिक मुक्ति की बात पहले आती है। हुआ यूं कि वर्ष 1848 में अपने एक ब्राह्मण मित्र की शादी में बाराती बन कर जा रहे थे कि किसी एक रूढ़िवादी ब्राह्मण ने इनको बारात के साथ शामिल होकर चलने के लिए मना कर दिया। इसलिए कि वे जाति के माली थे, अर्थात् निम्न जाति के थे। इस घटना ने उन्हें अंतिम रूप से इस निष्कर्ष पर पहुंचा दिया

कि सामाजिक मुक्ति का प्रश्न हर हाल में राजनैतिक मुक्ति से पहले आता है। इसलिए वे राजनैतिक स्वतन्त्रता के प्रश्न को प्राथमिकता न देते हुए एक सामाजिक मुक्ति के आंदोलन को खड़ा करने की ओर प्रवृत्त हुए। वर्ष 1851 में इन्होंने पहली बार निम्न जाति के लोगों और अछूत लड़कियों के लिए स्कूल खोला। इस प्रक्रिया में इन्होंने अपनी पत्नी को पढ़ाकर शिक्षक बनाया। इसी साल इन्होंने एक दूसरा स्कूल भी लड़कियों के लिए खोला। विशेष रूप से अछूतों के बीच शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए वर्ष 1852 में इन्होंने एक सोसाइटी की स्थापना की। निम्न जाति के लोगों को महत्व देने के प्रश्न पर ही इन्हें अपना घर छोड़ना पड़ा। वर्ष 1860 में इन्होंने एक विधवा ब्राह्मणी का पुर्नविवाह कराया। वर्ष 1863 में अनाथ बच्चों के लिए एक अनाथालय की स्थापना की। अपने अध्ययन के क्रम में इन्होंने ब्राह्मणवाद विरोधी चिंतन परंपरा एवं उसके इतिहास का गहन अध्ययन किया। कबीर आदि जैसे संतों को उन्होंने खूब पढ़ा। वर्ष 1855 में उन्होंने अपना पहला नाटक 'त्रितिया रत्न' लिखा जिसमें उन्होंने दिखाया कि एक कृषि मजदूर और उसकी पत्नी ईसाई मिशनरी द्वारा किए जा रहे सामाजिक कार्यों और प्रवचनों में बढ़–चढ़ कर हिस्सा लेते हैं तो गांव का ब्राह्मण पुरोहित उन्हें तरह–तरह से गुमराह करता है। लेकिन दोनों पति–पत्नी उसके गुमराह करने की साजिश को नाकाम कर देते हैं। नाटक का उद्देश्य यही होता है कि कैसे निम्न जाति के लोगों में अपने शोषण के प्रति चेतना जागृत हो उठी है। जातीय भेदभाव को बखूबी दर्शाने वाली तुकाराम तात्या पड़वाल की पुस्तक 'जातिभेद विवेक सार' को इन्होंने दुबारा प्रकाशित करवाया।

दलित आंदोलन का दर्शन और अम्बेडकरवाद

जैसा कि पहले अध्याय में कहा गया है कि आधुनिक भारत में दलित आंदोलन का आरंभ जोतिबा फुले से होता है। इसलिए दलित आंदोलन के दर्शन के सूत्र फुले के आंदोलन में ही है और यही वह दर्शन है जिस पर बाद के दलित आंदोलन और अम्बेडकरवाद का पूरा ढांचा विकसित हुआ है। यही उसके दर्शन के केन्द्र में है जो आज दलित आंदोलन का वैचारिक आधार है। जोतिबा फुले का आंदोलन वर्णाश्रम समाज व्यवस्था के मूल्यों और उसके दार्शनिक आधारों के विरूद्ध खड़ा हुआ था। इसलिए उसके बरक्स फुले जिन सामाजिक मूल्यों और विचारों की वकालत कर रहे थे वही दलित आंदोलन के दार्शनिक आधार की पृष्ठभूमि है। विधवा विवाह, स्त्री–शिक्षा ओर छुआछूत के विरूद्ध के आजीवन संघर्ष किए, नाटकों और किताबों की रचना कर वे हमेशा वर्णाश्रम समाज के मूल्यों और विचारों की आलोचना करते रहे। ऐसा करते हुए वे समाज में व्याप्त छोटी–छोटी बुराइयों की तरफ ही ध्यान नहीं देते थे, बल्कि उसकी जड़ की तरफ भी जाते थे। उसका मूल स्रोत कहां है ? उसको खोजते थे और उस पर भी चोट करते थे। उनका मानना था कि वर्णाश्रम समाज व्यवस्था में वर्णों की उत्पत्ति का जो सिद्धांत है वही तमाम बुराइयों को जन्म देने का स्रोत है। इसी सिद्धांत की जोतिबा फुले निर्मम आलोचना करते हैं और उसकी खिल्ली उड़ाते हैं – ''ब्राह्मणों का कहना है कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए, लेकिन कुल मिलाकर सभी ब्राह्मणों की आदिमाता ब्राह्मणी ब्रह्मा के

किस अंग से उत्पन्न हुई। इसके बारे में मनु ने अपनी संहिता में कुछ भी नहीं लिखा है। ऐसा क्यों?'' वे पुनः आगे कहते हैं कि – ''इससे तू ही सोच सकता है कि ब्रह्मा को, मुंह, बांह, जांघ और पांव इन चार अंगाों को योनि महावार (रजस्वला) के कारण, कुल मिलाकर सोलह दिन के लिए अशुद्ध होकर दूर–दूर तक रहना पड़ता होगा। फिर सवाल आता है कि उसके घर का काम धन्धा कौन करता होगा ? क्या मनु महाराज ने अपनी मनुस्मृति में इसके संबंध में भी कुछ लिखा है कि नहीं ?'' इससे भी अधिक तीखी आलोचना करते हुए वे आगे लिखते हैं – ''यदि सचमुच ब्रह्मा के चार मुख होते तो उसी हिसाब से उसके आठ स्तन, चार नाभियां, चार योनियां और चार मलद्वार होते। किन्तु इस बारे में सही जानकारी देने वाले कोई लिखित प्रमाण नहीं ले आ पाए हैं। फिर इसी तरह शेषनाग की शैय्या पर सोने वाले विष्णु ने लक्ष्मी नाम की पत्नी के होते हुए भी अपनी नाभि में चार मुंह वाले बच्चे को कैसे पैदा किया ? इस बारे में अगर सोचा जाए तो उसकी भी स्थिति ब्रह्मा जैसी ही होगी।'' जोतिबा फुले जब वर्णों की उत्पत्ति के सिद्धांत की आलोचना करते हैं तो वे वर्णाश्रम समाज की उन तमाम मान्यताओं, विचारों और मूल्यों की आलोचना करते हैं जो उसके दार्शनिक आधार को न्यायोचित ठहराते हैं। तब वह चाहे कर्मफल का सिद्धांत हो या पुनर्जन्म का सिद्धांत हो। जैसा कि विदित है वर्णाश्रम व्यवस्था को न्यायोचित ठहराने के लिए ही कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धांत को प्रतिपादित किया गया। ऐसा माना जाता है कि जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसी के अनुसार ही वह अगले जन्म में अपने वर्ण को प्राप्त करता है। अगर उसका कर्म बुरा है तो निम्न वर्ण में पैदा होगा, अगर अच्छा कर्म करता है तो वह उच्च वर्ण में पैदा होगा। इसलिए व्यक्ति को अपने वर्ण में रहते हुए उन्हीं कर्मों को करना होता है जो उनके लिए निर्धारित होता है। उसे इसी नियम का पालन करना होता है। इस तरह ऐसा करते हुए ही वह अपने पुनर्जन्म की प्रक्रिया से मुक्ति पाता है और मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए ब्राह्मण वर्ण को अपना कर्म करते रहना चाहिए और शूद्र वर्ण को अपना कर्म।' इस तरह जोतिबा फुले ने, वर्णाश्रम समाज व्यवस्था का जो दर्शन था, अर्थात् कर्मफल, पुनर्जन्म और मोक्ष का सिद्धांत, इसकी कड़ी आलोचना की। उन्हें ये सिद्धांत शूद्रों और अछूतों के लिए गुलामी का सिद्धांत लगा। आलोचना की इस प्रक्रिया में उन्होंने उन तमाम धार्मिक ग्रन्थों की भर्त्सना की जिनमें लिखकर अमानवीय कृत्यों और भेदभावों को सही ठहराया गया था। उनके अनुसार वेद, पुराण और स्मृति आदि सबके सब वर्णाश्रम समाज के औचित्य को सही ठहराने के लिए लिखे गए हैं। इसलिए वे इन ग्रन्थों को एक सिरे से नकार दिए – ''ब्राह्मणों के जिन प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर हम (शूद्र–अतिशूद्र) लोग ब्राह्मणों के गुलाम हैं, और उनके जिन ग्रन्थों और शास्त्रों में हमारी गुलामी के समर्थन में लेख लिखे हुए मिलते हैं, उन सभी ग्रन्थों का, धर्मशास्त्रों का और उनका जिन जिन धर्मशास्त्रों से संबंध होगा, उन सभी धर्म ग्रन्थों का हम निषेध करते हैं। उसी तरह जिन धर्म ग्रन्थों के आधार पर (फिर वह किसी भी देश का या धर्म के विचारवान व्यक्ति द्वारा तैयार किया हुआ क्यों न हो) सभी लोगों को समान रूप से सभी वस्तुओं का, सभी मानवीय अधिकारों का उपभोग करने की आजादी हो। मनुष्य के नाते मैं उस तरह

के ग्रन्थकर्ता के साथ छोटे भाई जैसा आचरण करूंगा।'' अपने आंदोलन में जोतिबा फुले अगर वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध कर रहे थे तो उसके बरक्स एक नई समाज व्यवस्था का विकल्प भी प्रस्तुत कर रहे थे जिसमें आधुनिक प्रगतिशील मूल्यों–स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की बात कही गई है। वे एक ऐसे समाज की कल्पना किए थे उन्होंने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जहां किसी भी प्रकार का जातिभेद, सम्प्रदाय भेद न हो और जहां मानवाधिकारों के सुरक्षित रहने की गारंटी हो। वैदिक धर्म में जिस ईश्वर प्रदत्व भेदभाव की कल्पना की गई थी फुले ने उसका विरोध किया। उनके अनुसार ईश्वर दयालु और रूपाविहीन है। पर उसके यहां पहुंचने का रास्ता पूजापाठ नहीं है, बल्कि तर्कबुद्धि और सत्य है। उसी के माध्यम से उसके करीब पहुंचा जा सकता है। इस तरह उन्होंने इस मान्यता को खारिज कर दिया कि कर्मों के पालन के माध्यम से ही ईश्वर से साक्षात्कार किया जा सकता है। अर्थात् कर्मफल, पुनर्जन्म और मोक्ष आदि के सिद्धांत के विकल्प में उन्होंने एक अपना तर्कपूर्ण और मानवीय दर्शन दिया। आरम्भिक दलित आंदोलन का दर्शन वर्णाश्रम समाज व्यवस्था के मूल्यों और उसके दार्शनिक आधारों के बरक्स खड़ा हुआ था। अर्थात् यह अध्यात्मिक दर्श के रूप में पुनर्जन्म का और सामाजिक दर्शन के रूप में वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध पर विकसित हुआ है। परम्परा के रूप में यह दर्शन प्राचीन काल में चार्वाक और मध्यकाल में कबीर के यहां मिलता है।

प्राचीन काल में चार्वाक पुनर्जन्म और वेदों की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि

यावज्जिवम् सुखम् जीवेत नास्ति मृत्युर्गोचरः

भस्मि भूतस्य देहास्य पुनरागमनम् कुतः (चरक संहिता)

(जब तक जीवित हैं तब तक सुख से रहिए, मृत्यु के बाद कुछ नहीं है, वह शरीर पुनः कैसे आ सकता है जो जल कर राख हो गया है।)

पुनः वेदों की आलोचना करते हुए चार्वाक कहते हैं कि –

त्रयोवेदस्य कर्तारः भंड धूर्त निशाचरः

जर्भरि तर्भरित्यादि पंडितानाम वच्छ् स्मृतम्। (चरक संहित)

यहां चार्वाक जब वेदों और पुनर्जन्म की आलोचना करते हैं तो वे पूरी वर्णाश्रम संस्कृति के दर्शन की आलोचना करते हैं।

इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए मध्यकाल में कबीर वर्णाश्रम और पुनर्जन्म का विरोध निम्न पंक्तियों में करते हैं –

जौ तू बामन बामनी जाया। तौ आन बाट हवै क्यों नहिं आया।

जौ तू तुरक तुरकनी जाया। तौ भीतर खतना क्यों न कराया।

इसी तरह निम्न पंक्ति में पुनर्जन्म की आलोचना करते हुए कहते हैं कि

बहुरि नहिं आवना ये देस

जो जो गए बहुरि नहिं आए पठनम नहिं संदेश

या

मन तू पार उतर कहं जैहौ ?

आगे पंथी पंथ न कोई, कूच मुकाम न पैहौ।।

महात्मा जोतिबा फुले ने जिन मूल्यों और दर्शनों का विरोध किया और उसके स्थान पर जिन मानवतावादी मूल्यों और दर्शनों की वकालत की वही दलित आंदोलन के दर्शन का मुख्य आधार बना। बाबा साहब डॉ0 अम्बेडकर ने उसी को समृद्ध और विकसित किया। अगर महात्मा जोतिबा फुले ने वर्णाश्रम व्यवस्था के दर्शन को अपनी आलोचना के केन्द्र में रखा तो डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने भी उसी को अपनी आलोचना के केन्द्र में रखा। डॉ0 अम्बेडकर वर्णाश्रम समाज वयवस्था के दार्शनिक आधार की आलोचना महात्मा फुले की तुलना में बहुत ही व्यवस्थित ढंग से की। एक विशेष सामाजिक संदर्भ के तहत कर्मफल, पुनर्जन्म और ईश्वरवाद जैसे दर्शन की कड़ी आलोचना की। वर्णाश्रम धर्म में पुनर्जन्म के सिद्धांत को आत्मवाद कहा गया जिसमें आत्मा को नित्य बताया गया और जिसका पुनर्जन्म किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अनिवार्य बताया गया। डॉ0 बी0आर0 अम्बेडकर आत्मवाद के स्थान पर अनात्मवाद का समर्थन किया। इस सिद्धांत को उन्होंने बौद्ध धर्म से लिया था जिसके अनुसार आत्मा अनित्य है, मनुष्य के जन्म से उसका अस्तित्व बनता है और उसकी मृत्यु के साथ उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। आत्मवाद को उन्होंने एक धोखा बताया – ''आत्मा में विश्वास भी उतना ही मिथ्या विश्वास का घर है जितना परमात्मा में विश्वास। आत्मा में विश्वास करना परमात्मा में विश्वास करने की अपेक्षा अधिक खतरनाक है। क्योंकि इससे इतना ही नहीं होता कि पुरोहितों का वर्ग पैदा हो जाता है और मिथ्या विश्वासों के जन्म का रास्ता खुल जाता है। बल्कि आत्मा के विश्वास के फलस्वरूप आदमी के जन्म से मरण तक उसके समस्त जीवन पर पुरोहितशाही का अधिकार हो जाता है।'' जैसा कि सर्वविदित है यही पुरोहित वर्ग जिसे हम अनुत्पादक वर्ग कह सकते हैं आम आदमी का शोषण करता है। डॉ0 अम्बेडकर ने जिस तरह पुनर्जन्म के सिद्धांत का खंडन किया उसी तरह ईश्वर के अस्तित्व का भी खंडन किया। इसी को ध्यान में रखते हुए विमल कीर्ति ने लिखा हैं – ''डॉ0 अम्बेडकर ने बुद्ध के दर्शन की दलीलें देकर यह स्पष्ट रूप से कहा कि ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता। उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के सिद्धांत का खण्डन किया।

निष्कर्ष

अम्बेडकरवाद का दर्शन मात्र दलित मुक्ति का दर्शन नहीं था वह इस व्यवस्था को पूरी तरह ट्रान्सफार्म करने का दर्शन था। इतने बड़े आंदोलन का गैर–दलित बुद्विजीवियों के चिंतन एवं लेखन पर क्या असर पड़ा है ? साहित्य को यह किस तरह प्रभावित किया है? निम्नलिखित पंक्तियों में इसी पर चर्चा की गई है। शोध प्रबंध के लिए एकत्रित की गई कहानियों के अध्ययन से मुख्यतः ये निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

1. दलित अपने जिन परंपरागत पेशे में है वहां उनका गैर–दलितों द्वारा घोर शोषण होता है।
2. दलित छूआछूत और वर्णाश्रम व्यवस्था के नियमों का अगर उल्लंघन करते हैं तो उनके साथ गैर–दलित लोग बहुत बेरहमी के साथ पेश आते है।
3. गरीब दलितों को उनकी आर्थिक मदद के नाम पर उनकी महिलाओं का यौन शोषण किया जाता है। इसके अतिरिक्त दलित महिलाओं को बलात् और धन देकर भी यौन शोषण किया जाता है। इतना ही नहीं दलित महिलाएं स्वयं ही गैर–दलितों से संभोग कराने के लिए लालायित रहती हैं और उनकी रखैल बनने के लिए हमेंसा तैयार रहती है।
4. दलित अगर गैर–दलित महिला से शादी करने अथवा प्रेम करने की चेष्ठा करता है तो उसे मौत के घाट उतार दिया जाता है।
5. जमींदारों और ठाकुरों द्वारा दलित पुरूषों का आर्थिक, शारीरिक और मानसिक शोषण किया जाता है जब दलित महिलाओं का मुख्यतः यौन शोषण किया जाता है।
6. दलितों की घोर आर्थिक तंगी का भी चित्रण हुआ है।
7. अपने शोषण की प्रक्रियाओं से गुजरते हुए दलित अपने स्वाभिमान का कहीं सफल तो कहीं असफल तरीके से रक्षा करने का प्रयास करते है। अधिकांशतः वे इसमें असफल ही होते हैं।

इन्हीं उपरोक्त समस्याओं के इर्द–गिर्द कहानियों के कथानक बने हुए हैं किंतु इन कथानकों के निर्माण के पीछे न तो कोई दृष्टि है, न ही कोई योजना और न ही कोई विशेष उद्देश्य। दलित आंदोलन की दृष्टि से ये सर्वथा दूर है। ऐसा नहीं है कि इन कहानियों के दलित पात्र अंबेडकर की विचारधारा को अपनाए हुए है। अथवा दलितों की जो समस्याएं है उसके विरूद्व दलित कोई व्यवस्थित और संगठित तरीके का संघर्ष चलाते हैं, या उनके पीछे उनकी कोई राजनीतिक या सामाजिक सोच है। या उनमें कोई दलित चेतना है। सिर्फ इतना कि वे अपने परंपरागत अधिकारों के लिए कहीं–कहीं अपने मालिकों और शोषण करने वालों से फौरी तौर पर टकराने की कोशिश करते है। दलित आंदोलन का दर्शन क्या है ? उसकी ऐतिहासिकता क्या है ? उसके सामाजिक और राजनैतिक सरोकार क्या है ? उसकी अस्मिता क्या है ? आदि की दृष्टि से ये कथानक निर्मित होते हुए नहीं दिखते। डॉ0 श्यौराज सिंह 'बेचैन' की 'रावण' और शोध प्रबंध जैसी कहानियां नहीं मिलती जिसमें दलित अस्मिता और उसके लिए संघर्ष का दर्शन होता है।

संदर्भ सूची

1. अकेला, ए.आर. (संपादन एवम् संकलन) : मायावती और मीडिया, आनन्द साहित्य सदन अलीगढ़, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण – 1997
2. अकेला, ए.आर. (संपादन और संकलन) : कांशीराम (प्रेस के आइने में) आनन्द साहित्य सदन अलीगढ़, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण – 1994

3. अम्बेडकर, डॉ0 बी.आर. : अछूत कौन और कैसे ? बुद्ध भूमि प्रकाशन नागपुर, महाराष्ट्र, प्रथम संस्करण – 1995 |
4. अख्तर, मोहम्मद जीमल : आयरन लेडी – मायावती, बहुजन संगठक, 12 गुरुद्वारा रकाबगंज रोड, नई दिल्ली – 09, प्रथम संस्करण – 1999
5. डॉ0 अनिल, नलिनी डॉ0 म. ला. सहारे : डॉ0 बाबा साहब अम्बेडकर की संघर्ष यात्रा एवं संदेश, सेगमेंट बुक्स नई दिल्ली–48, प्रथम संस्करण – 1997
6. आचार्य, नन्द किशोर – संस्कृति का व्याकरण, वाग्देवी प्रकाशन बीकानेर, राजस्थान–01, प्रथम संस्करण–1988
7. आजाद, आचार्य पृथ्वी सिंह – गुरु रविदास, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली – 16, पहला संस्करण – 1975
8. इन्द्रदेव – भारतीय समाज, आगरा विश्वविद्यालय आगरा, प्रथम संस्करण – 1969
9. कर्दम, जय प्रकाश – करूणा (बौद्ध पृष्ठभूमि पर आधारित उपन्यास) भारत सावित्री प्रकाशन गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण – 1986
10. कर्दम, जय प्रकाश – छप्पर, संगीता प्रकाशन शाहदरा, दिल्ली–110032, प्रथम संस्करण–1994